उष्ट्र में होने वाले प्रमुख संक्रामक रोग

डॉ. फतेह चन्द टुटेजा एवं डॉ. एन. वी. पाटिल
राष्ट्रीय उष्ट्र अनुसंधान केन्द्र, बीकानेर

उष्ट्र में होने वाले संक्रामक रोगों में 1. जीवाणु जनित रोग 2. विषाणु जनित रोग 3. परजीवी जनित रोग 4. फफूँद जनित रोग व 5 अन्य मिश्रित संक्रमण आते हैं।

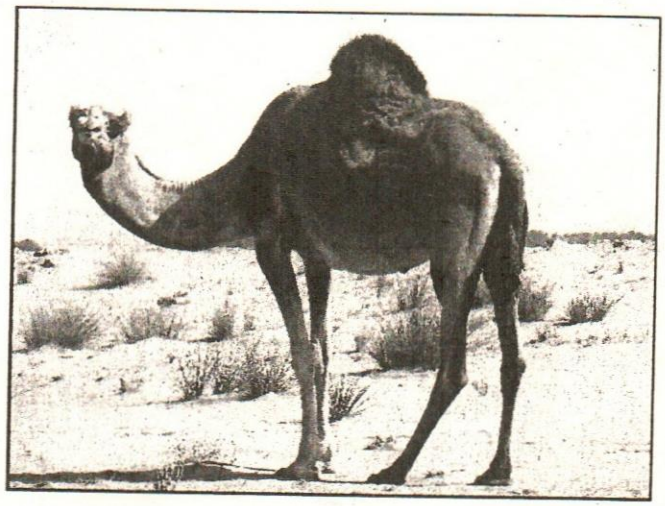

1. जीवाणु जनित रोगों में विशेषतया

i- ऊँटनियों में थनैला रोग

ii- ब्रुसीलोसिस/माल्टा बुखार

iii- क्षय रोग

iv- एक्टिनोबेसिलोसिस प्रमुख है।

i- ऊँटनियों में थनैला रोग

रेगिस्तान में ऊँटनी को एक अच्छा दुधारू पशु माना जाने लगा है। सूखे अथवा अकाल के समय जब अन्य दुधारू पशु, दूध देना कम कर देते हैं तो ऐसे में ऊँटनी की दुग्ध उत्पादन क्षमता में कोई विशेष कमी नहीं आती। थनैला रोग अथवा मैस्टाईटिस विशेषकर दुधारू पशुओं की बीमारी है। इस बीमारी से ग्रसित ऊँटनियों के दूध सेवन से ऊँटनियों के दूध पीते बच्चों एवं मनुष्यों के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। चूंकि ऐसे दूध में कई रोग पैदा करने वाले जीवाणु या जीवाणु विष दूध में आने लगते हैं।

रोग का कारण : कोई भी जीवाणु अथवा फफूंद जो मौका मिलते ही तंतुओं में प्रवेश कर रोग पैदा करते हैं, लगभग ये सभी मैस्टाईटिस कर सकते हैं। ऊँटनियों में यह बिमारी विशेषकर स्टैफाईलोकोकाई एव स्ट्रेपटोकोकाई जीवाणुओं से होती है। यह बीमारी मुख्यतः दो अवस्थाओं में ऊँटनियों में होती है :–

1. लक्षण रहित थनैला या सबक्लीनिकल मैस्टाईटिस : इस अवस्था में बीमारी के जीवाणु पशु के अयन में पनपते रहते हैं परंतु बाह्य लक्षण प्रतीत नहीं होते।

2. लक्षणयुक्त थनैला या क्लीनिकल मेस्टाईटिस : इस अवस्था में पशु के अयन पर सूज़न आ जाती है जिससे अयन के आकार तथा प्रकृति में अन्तर आ जाता है। पहले अयन लाल व गर्म हो जाता है। थनों को हाथ लगाने से पशु दर्द महसूस करता है। बाद में अयन सख्त व ठण्डा हो जाता है। दूध में कमी तथा दूध के रंग व इसके गाड़ेपन में बदलाव आ जाता है। कभी–2 दूध फटा हुआ, दूध में छीछड़े तथा खून भी आने लगता है। इस अवस्था में ऊँटनी बच्चों को दूध नहीं पीने देती। जिन पशुओं में यह लक्षण केवल अयन तक सीमित रहते हैं ऐसे रोग को मध्यम दर्जे का थनैला रोग माना जाता है। अगर पशु में यह लक्षण प्रणालीगत जैसे कि बुखार, कम आहार व शॉक अथवा झटका आदि करें तो इसे तीव्र दर्जे का थनैला रोग माना जाता है।

निदान

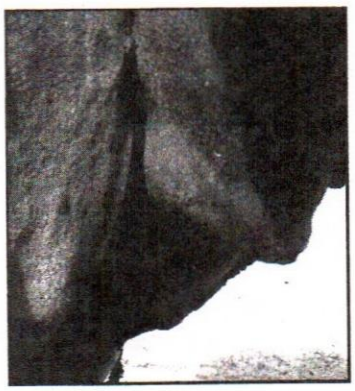

1. लक्षणयुक्त थनैला में लक्षणानुसार (छाया चित्र 1)

छाया चित्र 1 : थनैला ग्रस्त पशु के शुरूआती लक्षण व दूध की कमी इत्यादि

2. **जीवाणु (बैक्टीरियोलॉजिकल) परीक्षण** : प्रयोगशाला में दूध को विभिन्न जीवाणु मीडिया पर कल्चर किया जाता है तथा दूध में किस प्रकार के जीवाणु है, इसका पता लगाया जाता है। जीवाणुओं के आधार पर कई तरह की प्रतिजैविकी दवाइयां अर्थात् एंटीबाईटिक को ईलाज के लिए जांचा जाता है
3. **स्ट्रीप कप परीक्षण** : पशु को दुहते समय प्रत्येक थन का प्रथम दूध, इस कप के ढक्कन की जाली के ऊपर डाला जाता है। जिस थन के दूध में जाली पर छीछड़े, या फूटक दिखाई देती है, समझना चाहिए कि वह थन रोग से ग्रस्त है।
4. **कैलीफोरनिया मैस्टाईटिस् परीक्षण** : इसमें एक साधारण प्लास्टिक का पैडल होता है इसमें चार कप बने होते हैं। चारों कपों में लगभग 3 मि.ली. दूध अलग–अलग थनों से अलग–2 कपों में डाला जाता है तथा लगभग बराबर की मात्रा का विशेष रासायनिक घोल (कैलीफोरनिया रीजेन्ट) प्रत्येक कप में डाला जाता है। पैडल की सतह बनाए रखते हुए चक्रनुमा घुमाया जाता है। दूध का गाढ़ा होना तथा कप की सतह पर चिपकना रोग की तीव्रता को दर्शाता है।

बचाव : यह बीमारी मुख्यतः पशुओं के रखरखाव से सम्बन्धित है और सही रखरखाव द्वारा इसका बचाव किया जा सकता है।

सफाई का ध्यान रखना : चूंकि गंदगी के कारण इस रोग के जीवाणु अधिक पनपते हैं, इसलिए दोहक के हाथों, बर्तनों, कपड़ों तथा पशु के अयन की सफाई का विशेष ध्यान रखना चाहिए। अगर ऊँटनियों के रखने के स्थान को अच्छी तरह से साफ रखना चाहिए।

दूध दुहने का तरीका : दूध दुहते समय विशेष ध्यान यह रखा जाए कि पहले स्वस्थ पशुओं का दूध निकाल लिया जाए तथा बाद में रोग ग्रस्त पशुओं का, वरना बीमारी के जीवाणु रोगग्रस्त पशुओं से स्वस्थ पशुओं में फैल सकते हैं। दूध ऐसे तरीके से दुहना चाहिए जिससे पशु के थनों को नुकसान न हो। रोगग्रस्त पशु को अन्य स्वस्थ पशुओं से अलग रखना तथा रोगग्रस्त पशु का ईलाज करवाना चाहिए।

थनों को दवा में डुबाना : चूंकि रोग के जीवाणु पशु के थनों के दुग्ध–नलिका छिद्र से मुख्यतः प्रवेश करते हैं और दूध निकालने के कुछ समय बाद तक दूध नलिका छिद्र खुला रहता है। इसलिए दूध निकालने के बाद पशु के थनों को लाल दवा या डिपाल नामक दवा में डुबाने से थनों के ऊपर जो जीवाणु रहते हैं, थनों में प्रवेश करने से पहले ही नष्ट हो जाते हैं।

ऊँटनियों को दुग्ध से सुखाना : दुग्ध काल समय के आखिर में ऊँटनियों का दूध निकालना एकदम बन्द नहीं करना चाहिए तथा दूध से सुखाने के लिए पहले दूध निकालने के समय को बढ़ाना चाहिए। अगर आप एकदम दूध निकालना बन्द कर देते हैं तो अयन में जो दूध उतरेगा वह अयन में रहेगा तो यह दूध जीवाणुओं के पनपने में मददगार होगा क्योंकि यह दूध जीवाणुओं के लिए एक सम्पूर्ण आहार अथवा जीवाणु मीडिया का काम करता है।

ऑक्सीकरण रोधी (एन्टीऑक्सीडेंट) लवण इत्यादि खिलाना : इस रोग को रोकने में कारगर साबित हुए है।

ऊँटनियों को मक्खी मच्छर से बचाना : विशेषकर बारिश के दिनों में जब मक्खी मच्छर काफी बढ़ जाते हैं तो ये पशु के अयन जैसी नरम त्वचा पर अधिक काटते हैं। अतः मक्खी मच्छर से बचाना चाहिए तथा कटी त्वचा का तुरंत ईलाज करवाना चाहिए अन्यथा ये डंक, फफोले बन जाते हैं तथा इस रोग का कारण बनते हैं।

उपचार :

1. एन्टीबाईटिक अर्थात् प्रतिजैविक दवा : रोग का शीघ्र पता चल जाने पर चिकित्सा आसान होती है परंतु यदि रोग के जीवाणु अयन में पूर्ण विकास कर चुके हो तो फिर रोग का औषधि द्वारा ठीक होना कठिन हो जाता है। इसलिए रोग का पता चलते ही तुरंत पशु चिकित्सक को दिखाना चाहिए तथा दूध के नमूने को किसी नजदीकी प्रयोगशाला में जांच करवा कर पशु के लिए उत्तम प्रतिजैविक दवा का पता लगाया जा सकता है।

2. ऑक्सीकरण रोधी (एन्टीऑक्सीडेन्ट) दवा : विटामिन.ई और सैलेनियम को जब प्रतिजैविक दवा के साथ ऊँटनियों को दिया गया तो चिकित्सा परिणाम बेहतर मिले।

3. सहायक चिकित्सा : (1) थनों व अयन पर दर्द की स्थिति में ऐनलजेसिक (दर्द निवारक) देना चाहिए। (2) सूजन में एन्टीइनफ्लैमेटरी (सूजन निवारक) दवा देनी चाहिए (3) विटामिन बी–कॉम्पलैक्स देने से पशु के पचन ठीक रहने से बिमारी के निवारण में सहायता मिलती है। (4) रोगग्रस्त थनों का दूध अच्छी तरह से निकाल देना चाहिए। यदि दूध थनों से अच्छी तरह से साफ नहीं हो रहा हो तो आक्सीटोसिन का टीका लगाकर दूध साफ किया जा सकता है। (5) ऊँटनियों में विटामिन–सी खिलाने से भी लाभदायक परिणाम मिले हैं।

ii. ब्रुसेलोसिस / माल्टा बुखार : यह बीमारी गाय, भैंस, ऊंट अश्व, भेड़, बकरी, सूअर, कुतों आदि में ब्रुसैला नामक जीवाणु से होती हैं, गर्भित पशुओं में आखिरी तिमाही में गर्भपात होने के साथ–साथ जैर चमड़े जैसी हो जाती है। इसके अलावा पशु में कभी –कभी बुखार, जोड़ों में दर्द व लेवटी की सूजन जैसे लक्षण देखने को मिलते है। नर पशु के अंडकोशों में सूजन आ जाती है तथा प्रजनन क्षमता कम हो जाती है। एक बार गर्भपात होन होने पर ब्रुसैला जीवाणु शरीर में शांत अवस्था में पड़े रहते हैं अगली बार फिर गर्भ धारण करने पर गर्भपात की संभावना रहती है। पशुओ में ब्रुरूसेल्लोसिस का इलाज प्रभावी नहीं है। जिस पशु को गर्भपात होता है और जब तक योनि से स्त्राव निकलता है, उसे अन्य पशुओ से बिल्कुल अलग रखना चाहिए तथा आसपास की जगह को एंटीसेप्टिक घोल से धोना चाहिए। गर्भपातित भ्रूण, जैर, स्त्राव आदि को जला देना चाहिए या फिर गहरे गडे में गाड़ु देना चाहिए। ऐसी बीमारी का पता चलते ही तुरन्त पशु की जांच करवाएं अन्यथा बीमार पशु से जीवाणु, पशुओं के साथ काम करने वाले एवं कच्चा दूध सेवन करने वाले मनुष्यों तथा सम्पर्क में आने वाले अन्य पशुओं में यह रोग पैदा कर सकते हैं।

iii. क्षय रोग : क्षय रोग माइकोबैक्टीरियम नामक जीवाणुओं से होता है। क्षय रोग में शरीर का कोई भी अंग प्रभावित हो सकता है लेकिन फेफड़े विशेष रूप से प्रभावित होतें हैं। इस बीमारी में पशु में कम बुखार, कम खाना–पीना तथा पशु धीरे–धीरे कमजोर पड़ जाते है। उष्ट्र में लंबे समय तक कमजोरी व सामान्य उपचार जब सार्थक सिद्ध नहीं होते तो क्षय रोग की शंका को दर्शाते हैं। खाँसी या साँस लेने की वृद्धि दर के रूप में सांस की समस्याएं, दस्त, तेजी से वजन घटना व त्वचा के रोगों के रूप में अचानक शुरू हो सकते हैं या फिर ऐसा भी हो सकता है कि संक्रमित उष्ट्र में कोई संकेत न दिखे जब तक कि संक्रमण अत्याधिक न हो चुका हो क्योंकि क्षय रोग के प्रारंभिक संक्रमण से नैदानिक लक्षणों के विकास तक कई महीने या साल भी लग सकते हैं। ऐसी स्थिति का पता चलते ही तुरन्त पशु की प्रयोगशाला में जांच

करवा लें तथा चिकित्सक की सलाहनुसार ही पशु के रखरखाव के बारे में निर्णय लें। अन्यथा इस बीमारी के जीवाणु पशुओं का रखरखाव करने वाले, व ऐसे पशुओं का दूध सेवन करने वाले मनुष्यों व बाड़े में रहने वाले अन्य पशुओं में फैल सकते हैं। संक्रमित उष्ट्र अपने टोले के अन्य स्वस्थ उष्ट्रों के लिए, अन्य साथ रहने वाले पशुओं के लिए, मनुष्यों व स्थानीय वन्य जीवों के लिए एक बहुत बड़ा खतरा हो सकते हैं। क्षय रोग बहुत तरीकों से फैल सकता है, मुख्यतः रोग से ग्रसित जानवर की श्वास या फिर संक्रमित चारे, पानी या दूध के सेवन से भी हो सकता है। संक्रमित उष्ट्र का गैर–संक्रमित उष्ट्र झुण्ड में प्रवेश, क्षय रोग के फैलने का एक महत्वपूर्ण कारण हैं। उष्ट्र पालकों द्वारा उष्ट्र प्रायः झुण्ड मैं ही रखे जाते हैं व सही समय पर संक्रमित उष्ट्र को अलग न करना इस रोग के फैलने में सहायक हो सकता हैं। उष्ट्रों में क्षय रोग मुख्यतः वयस्क व बूढ़े ऊँटों में पाया जाता हैं। जीवित उष्ट्र में क्षय रोग का निदान बहुत मुश्किल होता हैं क्योंकि कोई भी परिक्षण निश्चित रूप से इस रोग का निदान नहीं कर सकता हैं। त्वचा में (इंट्राडर्मल) ट्यूबरकुलीन टेस्ट परिक्षण भी क्षय रोग की पुष्टि करने मैं असक्षम हो सकता हैं, जैसा कि कई बार त्वचा में (इंट्राडर्मल) ट्यूबरकुलीन परिक्षण की पुष्टि के बाद भी उष्ट्र के शव–परिक्षण में न तो कोई ट्यूबरकल गांठे अथवा माइकोबैक्टीरियम जीवाणु ही पाए गए। क्षय रोग पशुचिकित्सा, संरक्षणवादी व सार्वजनिक स्वास्थय की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। क्षय रोग एक सूचित करने वाली बीमारी है व इससे ग्रसित जानवरों को राज्य स्तर के पशुचिकित्सालय अथवा किसी उपयुक्त स्वास्थ्य सम्बन्धी एजेंसी को सूचित करना चाहिए।

iv- एक्टिनोबेसिलोसिस : यह बीमारी एक्टिनोबैसिल्लस नामक जीवाणुओ द्वारा होती है। इस बीमारी को वूडन टंग के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इस बीमारी में जीभ सख्त हो जाती है। सर्वे के दोरान यह बीमारी टोरडियों व वयस्क ऊँटों में (5 वर्ष तक) अधिक पाई गई। इस बीमारी में एक्टिनोबेसिलोसिस की गांठे पशु के जबड़ों पर पाई गई। पकने पर ये गांठे जब फूटती हैं तो इन गांठो से दानेदार मवाद निकलता है। शल्य चिकित्सा द्वारा इन गांठों को साफ किया जाता है और इसके साथ पोटाशियम आयोडाइड 10 ग्राम रोजाना 10 दिन तक व ब्रोडस्पेक्ट्रम एन्टीबाईटिक अर्थात् प्रतिजैविक दवा देने से इस रोग का उपचार किया जाता है।

II. विषाणु जनित रोग : उष्ट्र प्रजाति में होने वाले विषाणु जनित रोगों में विशेषतया i- चेचक रोग (माता रोग) ii- मूमड़ी (कन्टेजियस इक्थायमा) प्रमुख है।

i- चेचक रोग (माता रोग): ऊँटों में चेचक रोग वायरस की वजह से फैलने वाली संक्रामक बीमारी है। यह रोग युवा ऊँट और गर्भवती ऊँटनियों में ज्यादा होता है। मृत्युदर वयस्कों की तुलना में युवा ऊँटों में अधिक होती है। इस रोग में 9 से 13 दिनों की उष्मायन अवधि, बुखार, लिम्फ् नॉडस का बढ़ना और त्वचा पर घाव हो जाते हैं।

ऊँटों में इस वायरस का फैलना तीन तरीके से सम्भव है।

1. **प्रत्यक्ष सम्पर्क** : रोगग्रस्त ऊँट की त्वचा की रगड़ से अन्य स्वस्थ ऊँटों में फैलता है।
2. **अप्रत्यक्ष सम्पर्क** : संक्रमित ऊँटों की पपड़ी सामग्री, लार, प्रभावित ऊँटों के आँख, नाक के स्राव एवं दूध से अन्य स्वस्थ ऊँटों में फैलता है।
3. **वाहक के रूप में** : मच्छरों और चींचडों से। ऊँटों में चेचक रोग फैलने की घटना बरसात के मौसम के दौरान घातक रूप से जबकि शुष्क मौसम में कम प्रकट होता है। बरसात के मौसम में चीचड़ भी ज्यादा पाए जाते हैं । चेचक प्रभावित ऊँट से इस रोग का संक्रमण मनुष्य में भी हो सकता है।

लक्षण :

इस रोग में सर्वप्रथम तीन से 15 दिन की उष्मायन अवधि होती है। संक्रमण को तीक्ष्ण और व्यापक रूप में विभाजित कर सकते हैं। तीक्ष्ण संक्रमण सामान्यतः तीन साल से कम उम्र के ऊँटों में होता है। तीक्ष्ण संक्रमण से सक्रमित ऊँटों के शरीर में आन्तरिक घाव हो जाते हैं। इसके साथ–साथ श्वसन और पाचन नलियों में भी घाव हो जाते हैं। ऊँट को भूख नहीं लगती और दस्त हो जाते हैं। गर्दन और पेट पर सूजन हो जाती है और अन्ततः पीड़ित ऊँट द्वितीयक संक्रमण और सेप्टीसीमिया से मर जाता है। गर्भवती ऊँटनियों में इस रोग से गर्भपात हो जाता है। इसके विपरीत व्यापक लक्षण सामान्यतः 3 वर्ष के ऊपर के ऊँटों में पाया जाता है जिसमें लिम्फनॉड में सूजन, बुखार और पूरे शरीर पर घाव बन जाते हैं। इन घावों की शुरूआत त्वचा पर 1 सेन्टीमीटर से छोटे बिना स्त्राव के फफोलों से होती है जो बाद में स्त्राव वाले बड़े आकार के फफोलों में बदल जाते हैं। इन बाहरी लक्षणों की शुरूआत सर्वप्रथम सिर, नथुनों, आँखों की पलकों और गर्दन पर होती हैं जो धीरे–धीरे पूरे शरीर पर फैल जाते हैं। इन घावों को भरने में 4 से 6 सप्ताह तक लग जाते हैं।

निदान :

लक्षणों के आधार पर। मूमड़ी और चेचक दोनों के लक्षण लगभग समान होते हैं। इसलिए संक्रमित पशु के त्वचा के नमूनें का संचरण इलैक्ट्रॉन सूक्ष्मदशी द्वारा करवाना चाहिए। इसके अलावा – कोशिका कल्चर अलगाव, मानक बहुलक श्रंखला अभिक्रिया (पीसीआर), इम्युनोहिस्टोकैमेस्ट्री इत्यादि से भी इस रोग की जाच की जा सकती है।

उपचार व बचाव :

ऊँटों में चेचक रोग से होने वाले आर्थिक नुकसान व मनुष्य में इसके संक्रमण की संभावनाओं को देखते हुए रोग के प्रसार को रोकने के लिए रोग निरोधी वैक्सीन को विकसित जा रहा है। आजकल एक एटेनुएटेड वैक्सीन उपलब्ध है जिसे यदि 9 माह की उम्र तक के ऊँटों में लगातार दिया जाए तो कैमल पॉक्स से लम्बी अवधि तक बचाव किया जा सकता है। इसके अलावा एक असक्रिय वैक्सीन भी उपलब्ध है जिसे हर वर्ष दिया जाना चाहिए। इसके ईलाज के लिए सिडोफोविर, सी एम एक्स 001 और एस टी 246 प्रभावी उपलब्ध दवाइयाँ हैं जो संक्रमित ऊँट की मृत्यु को रोक सकते हैं।

ii- मूमड़ी : यह एक विषाणु जनित रोग है इसका वैज्ञानिक नाम 'कन्टेजियस इक्थायमा' है। मूमड़ी रोग वर्षाऋतु से पहले अथवा वर्षा ऋतु में अपेक्षाकृत अधिक होता है। यह रोग प्रायः दो वर्ष से कम उम्र के टोरडियों में तीव्रता से फैलने वाला संक्रामक रोग हैं। मूमड़ी रोग विषाणुओ का प्रसार रोगग्रस्त पशु, सूखी फूंसियां, संक्रमित उपकरण व मनुष्यों द्वारा भी हो सकता है।

लक्षण : इस रोग में मुख्यतया मुँह, होंठ, नाक, आँख व गले के आस–पास की त्वचा पर अतितीव्र दर्द वाली नुकीली फुंसियाँ हो जाती है, जिससे ऊँट को चारा खाने में भी दिक्कत हो जाती हैं। यदि यह फुंसियाँ थनों पर हो जाए तो मादाएं अपने टोरडियों को दूध नही पीने देती। ऐसे में टोरडियों के शारीरिक विकास पर दुष्प्रभाव पड़ता हैं। रोगी पशु में फुंसियों पर तीव्र खुजली होती है इसलिए ऊँट अपने प्रभावित अंग को किसी भी कठोर वस्तु से रगड़ता हैं व अपने आप को क्षतिग्रस्त कर लेता है। बीमारी के शुरुआत में मुँह के अंदर व आस–पास की त्वचा पर फुन्सियाँ आनी शुरू होती हैं, ये फुन्सियाँ आगे चलकर फोड़ों का रूप ले लेती है जिनमें ऊँट द्वारा खुजली करने पर जख्मों से खून भी आने लगता है। कुछ दिन बाद ऊँटों के मुँह व जबड़ों में सूजन आ जाती है जो एक सप्ताह तक रह सकती हैं । बाद में ये फुन्सियाँ

गांठों में परिवर्तित हो जाती हैं व ऐसी स्थिति एक सप्ताह तक रह सकती है। ये लक्षण 3 से 6 हफ्तों में अपने आप ठीक हो जाते हैं। यदि घावों में जीवाणु संक्रमण हो जाए तो इन लक्षणों को ठीक होने में 5 से 10 सप्ताह का समय भी लग सकता है।

निदान :

लक्षणों के आधार पर यह रोग आसानी से पहचाना जा सकता हैं। इसका रोग का निदान पी.सी.आर. व एलेक्ट्रोन माय्क्रोस्कोपी द्वारा भी संभव है।

उपचार :

एंटीसेप्टीक लोशन जैसे पोटैशियम परमैंगनेट (0ण्1:) आयोडीन (3ण्0:) पानी में मिलाकर फुन्सियों पर रोज लगाना चाहिए। घावों को पक्षीयों व मक्खियाँ से बचाना चाहिए। अन्यथा जख्म अधिक तीव्र हो जाते हैं व जख्मों में कीड़े भी पड़ जाते हैं। जीवाणु संक्रमित घावों का ईलाज पशुचिकित्सक से करवाना चाहिए। रोगग्रसित टोरडियों को बोतल द्वारा भी दूध पिलाया जा सकता है। रोगग्रस्त ऊँटो को मुलायम चारा खिलाना चाहिए।

बचाव :

रोगग्रसित ऊँटों को तुरंत अन्य स्वस्थ ऊँटों से अलग कर देना चाहिए ताकि रोग ग्रसित ऊँट स्वस्थ ऊँट के संपर्क में न आ सके। रोगग्रसित टोरडियों को मादाओं से अलग रखना चाहिएएं स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए व ऊँटों को कंटीले चारों से दूर रखें व कंटीला चारा खाने को न दें।

III. परजीवी जनित रोग : उष्ट्र विभिन्न प्रकार के आन्तरिक और बाह्य परजीवी रोगों से ग्रस्त होता है। इन रोगों के कारण काम करने की क्षमता व उत्पादकता प्रभावित होती है। मुख्य परजीवी रोगों में प. ट्रीपैनोसोमीऐसिस पप. सारकोपटीकोसिस पपप. चींचड़ संक्रमण व पअ. जठरांत्र कृमिरोग का प्रबंधन ऊँट को स्वस्थ रखने के लिए जरूरी है।

1. ट्रीपैनोसोमीऐसिस (सर्रा / तिबरसा) : आन्तरिक परजीवी जनित रोग ट्रीपैनोसोमियेसिस ऊँटों का एक प्रमुख एवं गंभीर संक्रामक रोग है। राजस्थानी भाषा में इसे 'तिबरसा' कहते हैं, क्योंकि यह रोग ऊँट में 3 साल तक चलता है।

रोग के कारण : यह रोग ट्रीपैनोसोमा इवान्सी, जो कि एक रक्त परजीवी है, के द्वारा होता है। यह परजीवी आकार में पतले, बेलनाकार तथा दोनों किनारों पर तुर्क होते हैं तथा पशु के रक्त में गतिशील होते हैं। यह परजीवी रक्त चूसने वाली टेबनस नामक मक्खी के काटने से बीमार पशु से स्वस्थ पशु में फैलता है। यह मक्खी रूक–रूककर पशु का खून चूसती है और शीघ्रता से एक पशु से दूसरे पशु में चली जाती है। यह रोग आमतौर पर बरसात के मौसम में या उसके बाद फैलता है क्योंकि इन दिनों में इस रोग को फैलाने वाली मक्खियाँ काफी अधिक संख्या में होती है। हाँलाकि पूरे साल ही इस रोग के कुछ मामले मिलते रहते हैं।

लक्षण : ऊँटों में सर्रा रोग दो अवस्थाओं में होता है।

(1) तीव्र अवस्था – रोग की इस अवस्था में कोई लक्षण दिखाई नहीं देते हैं। हाँलाकि ऊँट के रक्त में ट्रीपेनोसोमा रहते हैं। थोड़ा दिनों में ऊँट के उठने–बैठने में कमजोरी दिखाई देने लगती हैं। आँखों की चमक कम हो जाती है। उसका कूबड़ धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है। ऊँट की छाती तथा पर सूजन आ जाता है। उसे सांस लेने में कठिनाई होती है। नाक से स्राव आता है। उपचार न मिलने पर 6 से 12 दिन में ऊँट की मृत्यु हो जाती है। भारत वर्ष में यह अवस्था जुलाई से अक्टूबर तक दिखाई देती हैं ।

(2) चीरकालीन अवस्था – ऊँटों में सर्रा रोग की चीरकालीन अवस्था ज्यादा दिखाई देती है। इस अवस्था में सामान्य ज्वर रहता है तथा 1 महीने में 3–4 बार शरीर के तापमान में वृद्धि पाई जाती है। जैसे–जैसे यह रोग बढ़ता है वैसे–वैसे शारीरिक तापमान में वृद्धि कम होती जाती है तथा अन्त में अत्यधिक कम हो जाती है। ऊँट कमजोर होना शुरू हो जाता है। उसका कूबड़ समाप्त होने लगता है। थोड़े दिनों में ऐसे लगने लगता है कि ऊँट में कूबड़ था ही नहीं। त्वचा खुरदरी पड़ जाती है। आँखे फीकी पड़ जाती है। रक्त की कमी हो जाती है। शरीर की पेशीया धीरे–धीरे कमजोर होती जाती है। कूल्हों व जांघों पर विशेष असर दिखाई देता है। ग्याभिन ऊँटनी में गर्भपात हो जाता है। अन्त में शरीर कृशकाय हो जाता है। शरीर के आक्षित भागों पर सूजन आ जाती है। ऊँटों में इस अवस्था की अवधि लगभग तीन साल होती है। यदि ठीक इलाज न किया जाए तो ऊँट की मृत्यु हो जाती है। पशु की मृत्यु अधिकतर कमजोरी, एनीमिया, फेंफड़ों में शोफ तथा सांस फूलने के कारण होती है।

निदान : मुख्यतः लक्षणों के आधार पर जैसे कि पशु का धीरे–धीरे सूखना या कमजोर पड़ना। सूक्ष्मदर्शी द्वारा रक्त में परजीवी की पहचान । जैविक परीक्षण में चूहों में संदिग्ध रक्त के इंजेक्शन । एंजाइम्स् से जुड़े सिरों जैव रसायनिक परीक्षण जैसे इलीजा, फ्लोरोसेंट एंटीबॉडी परीक्षण इत्यादि । बहुश्रंखला अभिक्रिया (पीसीआर) द्वारा जांच

उपचार और नियंत्रण : प्रतिजनी परिवर्तन (एंटीजैनिक वेरियेशन) के कारण ट्रीपैनासोमा की वैक्सिन नहीं बन पाई है। आमतौर पर इस्तेमाल किया जाने वाले ट्रीपैनोसोम्स की दवाएं :

क) क्यूनापारामीन डायलमीथाइसलफेट – 3–5 मिलीग्राम/किग्रा शरीर भार के अनुसार उप त्वचा में देते हैं।

ख) नागानोल (सुरामीन, मोरानील) – 0.4–0.6 ग्राम प्रति 45 किग्रा शरीर भार के अनुसार नसों में देते हैं।

ग) क्यूनापारामीन डायलमीथाइसलफेट और क्यूनापारामीन क्लोराइड – 5 मिलीग्राम/किग्रा शरीर भार के अनुसार उप त्वचा में देते हैं।

घ) आइसोमेटामीडियम क्लोराइड हायडरोक्लोरेट –0.5–1 मिलीग्राम/किग्रा शरीर भार के अनुसार नसों में या अन्तःपेशी में देते हैं। और इसका उपयोग केवल प्रभावी दवाओं के अभाव में किया जाता है।

रोकथाम

(1) ऊँटों में सर्रा रोग की रोकथाम हेतु एन्ट्रीसाइड प्रोसाल्ट दवा जो क्विनपाइरामीन के क्लोराइड और सल्फेट का मिश्रण (3 भाग सल्फेट व 2 भाग क्लोराइड) है, दी जाती है। इस दवा की 7.5 मिग्रा प्रति किलोग्राम शरीर के भार की दर से इन्जेक्शन द्वज्ञरा उपत्वचा में लगाया जाता है। यह दवा ऊँटों को 3 महीने तक रोग से सुरक्षित रखने की क्षमता पैदा करती है।

(2) बीमार ऊँट को टोले के अन्य ऊँटों से अलग कर देना चाहिए।

(3) टेबेनस मक्खी को मारने हेतु कीट नाशक दवाओं का स्प्रे करना चाहिए।

ii- सारकोपटीकोसिस /मेंज / खुजली / पांव : मेंज ऊँटों में एक आम परजीवी त्वचा रोग है जो सारकोपटिस स्काबिएई माइट के कारण होता है। माइट का संक्रमण सबसे आमतौर पर सर्दियों के अंत में या बसंत के शुरुआत में हो सकता है या वर्ष भर भी यह रोग हो सकता है। यह ऊँट में कुपोषण और अत्यधिक भीड़भाड़ में रखने के कारण होता है। पशु के शरीर के कम बालों वाले भागों –चेहरा, गर्दन, कांख और किनारों पर अधिक संक्रमण होता है। हालांकि, उच्च संक्रमण होने और ऊँटों की अच्छी देख–रेख नहीं होने पर मेंज सारे शरीर में फैल जाती है। माइट द्वारा त्वचा में

छोटा छिद्र बनाने और खानेवाली गतिविधि के कारण गहन खुजली होती है जिसके कारण त्वचा पर खरोंच हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप प्रभावित त्वचा सतहों पर रक्त स्राव भी होता है। इसके अलावा सूजन, प्रभावित हिस्सों से बाल झड़ जाते है और सूखी पीक की पपड़ी बन जाती है।

ऊँट में मेंज जानवरों के समूह की एक बीमारी हैए जो जानवरों के खराब प्रबंधन के कारण होती है अतः झुंड में संक्रमित ऊँट को स्वस्थ पशुओं से तुरंत अलग कर देना चाहिए । स्वस्थ और रोग ग्रस्त जानवरों के मिश्रण को रोकने के लिए जानवरों के चरने और घुमने वाले क्षेत्रों को तुरंत बदला जाना चाहिए। जैसा कि माइट्स शरीर पर काफी रहता है, इसके प्रजनन का नियंत्रण नियमित रूप से पशुओं के साफ–सफाई द्वारा किया जा सकता है। पशु के आवास क्षेत्रों को चूने और नमक से नियमित कीटाणुशोधन करना चाहिए। कीटनाशक औषधि का वर्ष में एक बार छिड़काव संक्रमण की संभावना को कम कर देता है। ठीक हुए जानवरों में फिर से संक्रमण रोकने के लिए एक ही समय में सभी ऊँटों का इलाज करना चाहिए। ऊँटों को संभालने वाले व्यक्तियों को हमेशा अच्छी तरह से साबुन और अन्य कीटाणुनाशक से अपने हाथों को धोना चाहिए। कीटनाशक औषधि जैसे डियाजीनोन, अमितराज, डेल्टामेथ्रिन और फेनवालीरेट का इस्तेमाल अत्यधिक प्रभावी है। ऊँटों में माइट्स के इलाज के लिए एवरमेक्टिन दवा लगाई जाती है।

iii- चींचड़ संक्रमण : चींचड़ की कुछ प्रजातियां जैसे हायलोमा ड्रोमेडेरी, हायलोमा अनाटोलीकम, हायलोमा मारजीनेटम, रीपीसेफेलस और ओरनिथोडोरस आमतौर ऊँटों पर पाई जाती है। चींचड़ ऊँट से खून को बहुत बड़ी मात्रा में चूस लेता है और लगातार जलन पैदा करता जिससे जानवर शरीर को रगड़ने के लिए मजबूर हो जाता है। भारी संक्रमण से ऊँटों में काम करने की क्षमता में कमी, दूध के उत्पादन में कमी और युवा पशुओं में विकास दर प्रभावित होता है। इसके अलावा चींचड कई बीमारियों में वाहक का भी काम करते हैं। कीटनाशक औषधि जैसे डियाजीनोन, अमितराज, डेल्टामेथ्रिन और फेनवालीरेट का छिड़काव चींचड के रोकथाम में प्रभावी होता है।

iv- जठरांत्र कृमिरोग : ऊँटों में गैस्ट्रोइंटेस्टाइनल कृमिरोगए गोलकृमि की बहुत सारी प्रजातियों से होता है। छोटे पशुओं के विपरीत ऊँट में गोलकृमि का संक्रमण लक्षणहीन होता है तथा सामान्य सुस्ती के लक्षण, कभी–कभी दस्त, कब्ज, दुर्बलता और एनीमिया होता है। पोषक तत्वों के अवशोषण में कमी के कारण वजन बढ़ोतरी व कार्य क्षमता में कमी आती है। वर्षा ऋतु का समय विशेष रूप से जुलाई से अक्टूबर महीने में पेट के कीड़ों का संक्रमण अत्याधिक होता है।

गोलकृमि संक्रमण में ज्यादातर स्ट्रोगाइल्स जैसे कि हिमोंकस, नेमाटोडायरस/नेमाटोडीरेला होते हैं। इसके अलावा स्ट्रोगायलोंईडिस, ट्राईचुरिस आदि का संक्रमण भी होता है। हाल ही में ऊँट में फाइलेरिया कृमि, डिपेटेलोनीमा इवान्सी जो धमनियों में पाया जाता है महत्वपूर्ण रोग के रूप में सामने आया है।

गर्म शुष्क क्षेत्र में, ऊँट के पेट में कृमिरोग के संक्रमण बहुत महत्वपूर्ण है। भेड़ और बकरी के साथ ऊँट की मौजूदगी जानवरों में कीड़ा संक्रमण के व्यापक प्रसार में सहायक है। पेट के कीड़े, परजीवियों और इसका संक्रमण स्थान और प्रबंधन प्रणाली के साथ बदलती है। ऊँटों की प्रबंधन प्रणाली में, नियमित रूप से कीटाणुनासक दवाओं का इस्तेमाल जरूरी है। नियमित कीटाणुनासक दवाओं के इस्तेमाल से ऊँटों में कृमिरोग को नियन्त्रित किया जा सकता है।

IV. फफूँद जनित रोग : थार मरूस्थल के तापमान व वर्षा ऋतु की नमी के कारण ऊँट की त्वचा पर कुछ विशेष फफूँद रोग पनपते हैं। त्वचा के ये फफूँद रोग आपसी संपर्क से पशुओं में फैलते हैं। शुरू में यह बीमारी टोलों में रखे गए जानवरों के एक–दो पशुओं में, तत्पश्चात यह अन्य स्वस्थ पशुओं में फैल जाती है। ऐसे में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि बीमारी का पता चलते ही तुरंत प्रभाव से बीमार पशु को अन्य स्वस्थ पशुओ से अलग कर दें तथा बीमार

पशु का इलाज करवाने के पश्चात ही अन्य स्वस्थ पशुओं के साथ जाने दें। ऐसे कुछ रोगों के नाम जो उष्ट्र पालक खुद जानते है ये– ठीकरीया, टाट की बीमारी व दाद इत्यादि है ।

1. दाद (रिंगवार्म) : यह त्वचा रोग माईक्रोसपोरम फफूँद द्वारा होता है। इसमें सिक्के के आकार के जख्म शरीर के किसी भी भाग पर हो जाते है। गठीले दाद (गठीली रिंगवार्म) ट्राईकोफाईटोन फफूँद द्वारा होता है। . इसमें बड़े गठीले जख्म शरीर के किसी भी भाग पर हो जाते हैं।

छाया चित्र 3 : ऊँट में दाद की बीमारी

छाया चित्र 4 : ऊँट में गठीले दाद की बीमारी

3. इपिड्रममिटोफिटोन फ्लोकोस्म : इस फफूँद रोग में ऊँटो की त्वचा पर विशेषकर बच्चों में सूखे तरह के जख्म तेजी से फैलते हैं। अधिक बड़ा जख्म ऐसे लगता हैं जैसे बालों को आग से जला रखा हो। यह बीमारी भी टोले के अन्य पशु में शीघ्रता से फैलती है। यह बीमारी विशेषकर बारिश के समय में देखी गई है।

छाया चित्र 5 : ऊँट में इपिड्रममिटोफिटोन फ्लोकोस्म

ii. त्वचा सम्बन्धी अन्य फफूंदी रोग : इसमें ठीकरिया (स्किन कैनडिडीयेसिस), टाट की बीमारी (कुटेनियस ऐलटरनियोसिस) व स्क्लेरोपसिस ब्रावीकॉलिस प्रमुख है।

4. ठीकरिया (स्किन कैनडिडीयेसिस) : ठीकरिया (स्किन कैंडीडियेसिस) एक वर्ष से कम उम्र वाले टोरडियों में तीव्रता से फैलने वाला संक्रामक रोग है। चूंकि इस रोग के जख्म बाह्य त्वचा पर टूटे हुए मिट्टी के बर्तन की ठीकरी के आकार के लगते है, इसलिए उष्ट्र पालक इसे अपनी भाषा में ठीकरिया कहते है।

जब भी यह संक्रमण किसी टोले में होता है तो उस टोले के सभी नवजात टोरडियों में तीव्रता से फैल जाता है। इन्हीं नवजात टोरडियों के साथ रहती व दूध पिलाती मादा ऊँटनियों में यह संक्रमण नहीं होता। यह रोग राजस्थान के शुष्क व अर्धशुष्क दोनों क्षेत्रों में देखने को मिलता है।

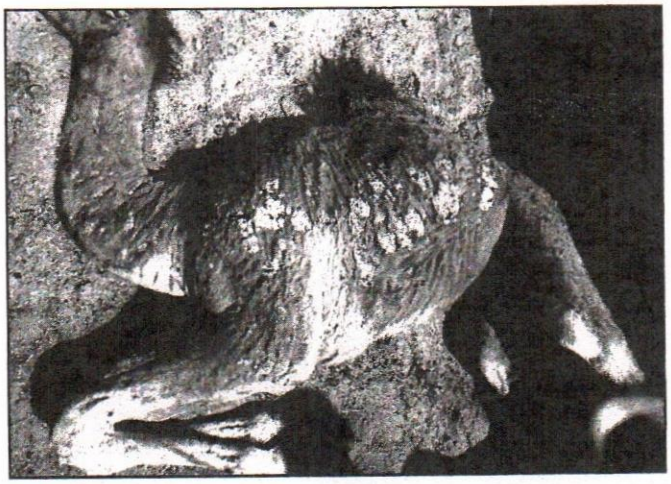

छाया चित्र 6 : ठीकरिया के जख्म

इस रोग में जख्म पहले गोलाकर होते हैं तथा 1.0 से. मी. से भी कम परिमाप के होते हैं तत्पश्चात ये लगभग 10 से. मी. से भी अधिक परिमाप के हो जाते हैं व आपस में मिल जाते हैं। जख्म सख्त रेशेदार परत के साथ फुंसीदार व बालरहित होते हैं। जख्मो को खुरचने पर काली व भूरी दुर्गन्धभरी जड़ सहित बालों वाली खुर्चन निकलती है। कुछ समय पश्चात इन टोरडियों में बेचैनी व खुजलाहट होती है जिससे जख्म फट जाते हैं व इनसे खून निकलने लगता है इससे टोरडिए कमजोर व दुर्बल हो जाते हैं।

जख्मों से त्वचा खुर्चन नमूनों के फफूंद संवर्धन परीक्षण में कैंडीडा ऐल्बिकान्स नामक फफूंद से इस रोग के होने का पता चला।

टोरडियों में ठीकरिया के उपचार के लिए दवाइयों का अध्ययन कर निम्नलिखित तीन दवाओं को उपचार के लिए सही पाया गया। उपचार शुरू करने से पहले पूरे शरीर के बाल काट दें इससे दवा लगाना आसान रहेगा व मात्रा भी कम लगेगी। तत्पश्चात टोरडियों में ठीकरिया के जख्म की खुरचन को अच्छी तरह से रगड़ कर साफ कर दें।

उपचार 1 : साफ पानी में 2.0 प्रतिशत पोटैशियम आयोडाइड का घोल हर दूसरे दिन लगाएं।

ऐसा करने से ठीकरिया 20 दिन में ठीक हो जाता है।

उपचार 2 : सरसों के तेल में 6.0 प्रतिशत गंधक का पाऊडर मिला कर हर दूसरे दिन लगाएं । ऐसा करने से ठीकरिया 15 दिन में ठीक हो जाता है।

उपचार 3 : जख्मों को 10.0 प्रतिशत सोडियम थायोसल्फेट के घोल से धोएं। तत्पश्चात सरसों के तेल में 6.0 प्रतिशत गंधक का पाऊडर व 3.0 प्रतिशत सेलिसिलिक अम्ल मिला कर हर दूसरे दिन लगाएं। ऐसा करने से ठीकरिया 14 दिन में ठीक हो जाता है ।

5. टाट की बीमारी (कुटेनियस ऐलटरनेरियोसिस) : यह बीमारी मुख्यतः एक साल या अधिक उम्र के बच्चों में ऐलटरनेरिया ऐलटरनाटा नामक फफूंद के संक्रमण से होती है। यह भी एक छूत की बीमारी है और एक पशु से दूसरे पशु में बहुत तेजी से फैलती है। इस बीमारी में शरीर पर सफेद व सूखे जख्म पशु के किसी भी भाग की त्वचा पर हो जाते हैं। इस बीमारी के इलाज के लिए पहले जख्म को अच्छी तरह से साफ कर

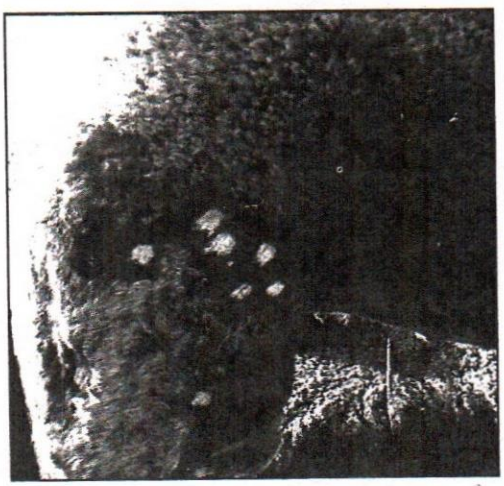

छाया चित्र 7: ऊँट में टाट की बीमारी के जख्म

लें व फिर 100 मि. ली. सरसों के तेल में 6 ग्राम गंधक और 3 ग्राम सैलिसैलिक अम्ल पावडर डालकर अच्छे से मिला लें और इससे बने मिश्रण को संक्रमण वाली जगह पर रोजाना ठीक होने तक लगाएं।

6. स्क्लेरोपसिस ब्रावीकॉलिस : इस फफूँद रोग में ऊँटो की त्वचा पर छोटे–छोटे जख्म विशेषकर बालों के नीचे तेजी से फैलते हैं तथा बालों को काटने पर अनेकों सफेद जख्म दिखाई देने लगते हैं। यह बीमारी भी टोले के अन्य पशु में शीघ्रता से फैलती है। यह बीमारी विशेषकर बारिश के समय में देखी गई है।

V. अन्य मिश्रित संक्रमण

i. नवजात टोरडियों में नाभी नाल संक्रमण : टोराडियो में एक से दो हप्ते तक नाभी नाल में संक्रमण का खतरा रहता है। इसमे संक्रमण होने पर नाभी नाल के आस पास सूजन आ जाती है और दर्द भी रहता है बाद में यह फोड़े में बदल जाता है और उसमें मवाद भर जाता है। कभी कभी ज्वर भी आ जाता है। यदि समय से इलाज नहीं किया गया तो संक्रमण शरीर में पहुँच जाता है और जानलेवा भी हो सकता है।

छाया चित्र 8: ऊँट में स्कलेरोपसिस ब्रावीकॉलिस

बचाव– जन्म के तुरंत बाद बच्चे के नाभी नाल को चार से पांच सेंटीमीटर की दूरी पर नए ब्लेड से काटकर धागे से कसकर बांध दें तथा उस पर बीटाडीन का लेप लगा दें।

इसमे संक्रमण होने पर इसमे भरे मवाद को दबाकर निकल देना चाहिए फिर साफ पानी में लाल दावा यानी पोटैशियम परमैगनेट डालकर धोना चाहिए और बिटाडीन मलहम का लेप ठीक होने तक लगाना चाहिए।

ii. टोरडियों में दस्त लगना : दस्त लगना बच्चों के मृत्यु का एक प्रमुख कारण है। यह सामान्यतय ज्यादा दूध या खींस पीने से होता है। तथा कभी कभी जीवाणु (इ कोलाई या साल्मोनेलोसिस) या विषाणु (रोटा या कोरोना विषाणु) के संक्रमण से होता है (मल पीला, पानी जैसा और बदबूदार होता है)। इस बीमारी में शरीर का पानी निकल जाता है, टोरडिया कमजोर व सुस्त हो जाता है, दूध चुंगना बंद कर देता है, आँखें धँस जाती है और टोडिया खड़ा नहीं हो पाता है। इलाज नहीं करवाने पर दो तीन दिन में बच्चे की मृत्यु हो जाती है ।

बचाव – टोराडियो को खींस पिलाते समय यह ध्यान देना चाहिए की बच्चा ज्यादा खींस न पिये, अतिरिक्त खींस को दुह कर निकाल देना चाहिए। दस्त लगने पर खींस या दूध थोड़ी–थोड़ी मात्रा में दिन में चार से पांच बार पिलाएं। साफ उबले पानी को ठंडाकर उसमे चीनी और नमक का घोल बनाकर बच्चे को पिलायें, दूसरे दिन ठीक न होने पर पशु चिकित्सक की सलाह लेनी चाहिए।

iii. सर्दी, खांसी एवं न्युमोनिया : उँटनियाँ अधिकतर सदऋतु के जनवरी या फरवरी माह में ब्याती हैं इसलिए टोराडियों को सर्दी लगने, खांसी और न्युमोनिया होने की संभावना ज्यादा होती है। सर्दी लगने पर नाक से पानी आने लगता है । आरंभ में टोराडियों को सूखी खांसी अथवा धांसी आती है और साँस लेने में कठिनाई होती है तथा गले के नीचे सायं सायं की आवाज अति है। यदि इसका इलाज नहीं किया गया तो यह न्युमोनिया का रूप ले लेता है। न्युमोनिया में हर समय ज्वर रहता है, पीड़ित बच्चा कांपता है, फेफड़े तथा पसलियों में दर्द के कारण कराहता है, साँस लेने में कठिनाई होती है, आंखें लाल हो जाती है। इलाज नहीं करवाने पर तीन से चार दिन में बच्चे की मृत्यु हो जाती है ।

बचाव– सर्दी से बचाने के लिए टोराडियो को घर के अंदर या ऐसी जगह पर रख चाहिए जहाँ ठंडी हवा न लगे, उसके शरीर पर रात को टाट या बोरी बांध देनी चाहिए। खांसी या न्युमोनिया होने पर टोराडियो को इंजेक्सन एविल 2 मी. ली., सेफोटकसिम 500 मिलीग्राम पांच दिन तक तथा काफडान पावडर 10 ग्राम दिन में दो बार सात दिन तक पिलानी चाहिए या पशु चिकित्सक से सलाह लेनी चाहिए।